# समकालीन हिंदी कहानियों में आदिवासी जीवन का आर्थिक पक्ष

-डॉ. मो आजम शेख

**शोध सार:** समकालीन हिंदी कहानी की शुरुआत में ही आदिवासी लेखनी का बीजारोपण हो चुका था| आदिवासी विमर्श से भिन्न अपने आदिवासियत अवधारणा के साथ वैश्विक पहचान बनाने में सफल हुई हैं| आदिवासी समाज में आर्थिक पिछड़ापन के कई कारण है जिनमें प्रमुख रूप में देखा जा सकता है| हिंदी कहानीकारों के कहानियों में जीवन के आर्थिक पक्ष के आलोक में शोषण, बेरोज़गारी, विस्थापन, भुखमरी, शहरों में काम की तलाश में भटकना आदि को प्रमुखता से अध्ययन में शामिल किया गया है| इसमें मूल आदिवासी लेखक और गैर-आदिवासी लेखकों की प्रमुख कहानियों को आधार बनाया गया है जिसमें गोवर्द्धन यादव, नाबाम जोराम यालाम, पुन्नी सिंह, राकेश कुमार सिंह, वाल्टर भेंगरा तरुण, एलिस एक्का आदि की कहानियों में आदिवासी जीवन के आर्थिक पक्ष को देखा गया है|

**बीज शब्द:** समकालीन, हिंदी कहानी, आदिवासियत, भूमंडलीकरण, विस्थापन, अस्मिता,शोषण|

**मूल आलेख:** आदिवासी जीवन के आर्थिक पक्ष से आशय है अर्थ की तलाश, ऋण की समस्या, रोज़गार व्यवस्था का उचित प्रबंध ना होना तथा शिक्षा के प्रति जागरूकता के अभाव आदि को सम्मिलित किया गया है| आदिवासी समाज के लिए अर्थ की तलाश का मूल उद्देश्य है प्राकृतिक संपदा का प्रयोग जरूरत एवं सीमित अवस्था में ही करना होता है| किंतु मुख्य धारा के लिए प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग केवल उपभोग एवं विभिन्न प्रयोगों की धारणा पर आधारित हैं|यह औधोगिकीकरण के रूप में डैम एवं बांध का निर्माण तो किया जा रहा है किंतु स्थानीय आदिवासी समुदायों के स्वरूपों में कोई परिवर्तन होते हुए दिखाई नहीं देता है|

वर्तमान समय में आर्थिक विकास एवं प्रगति के नाम पर घने जंगलो की कटाई की जा रही है| कोयला एवं पत्थरों के नाम पर गैर- आदिवासी का अवैध कब्ज़ा बढ़ता जा रहा

हैं| उदहारण के रूप में झारखण्ड प्रदेश को देखा जाय तो वहाँ आदिवासी समुदाय की आर्थिक स्थिति मुख्य समाज के तुलना में बहुत अच्छी नही हैं| बेरोजगारी की संख्या सबसे अधिक है| सेंटर फॉर मायोनिरिटी इकोनॉमिक्स [सी एम आई ई] के जुलाई 2023 के आकड़ों के अनुसार 8.45 प्रतिशत रहती है जो अत्यंत चिंता का विषय भी बन जाता है|

आदिवासी समाज के पास व्यापक जंगल क्षेत्र है और विस्तृत मैदानी व पठारी क्षेत्रो का भण्डार है किंतु वहाँ से मिकलने वला कोल, चूना, पत्थर, लोह अयस्क, बोक्साईट आदि पर प्रभुत्व गैर आदिवासी का बना हुआ है| इस प्रकार आदिवासी समुदाय का बहुसंख्यक तबका गैर आदिवासी समाज के विभिन्न शोषण चक्रों में भी फसते हुए दिखाई देते हैं| जैसे एक तरफ आर्थिक विकास के नाम पर पूंजीवादी अवधारणा को स्थापित किया जा रहा है तो दूसरी तरफ आदिवासी समुदाय को उनके अपने जमीन से उजड़ने के लिए विवश किया जा रहा है| डॉ. वीर भारत तलवार आदिवासी जीवन के आर्थिक शोषण के चक्र को स्पस्ट करते हुए लिखते हैं कि “पूंजीवाद निर्भर करता है इन आदिवासियों पर जो जंगल से इन पैदावारों को जमाकर हटाकर हाट तक लेकर जाते हैं जिन्हें रास्ट्रीय अंतराष्ट्रीय पूंजीवाद के सबसे निचले स्तर के स्थानीय एजेंट, सेठ, साहूकार और महाजन के सबसे निचले स्तर के रेलवे स्टेशन पर मालगाड़ियों में लादकर कलकत्ते भेजते हैं जबकि इनसे तैयार माल बेचकर पूंजीपति करोड़ो मुनाफ़ा कमाते हैं|”[1] शोषण की यह प्रकिया बहुत पुरानी नहीं है जबकि इस आर्थिक शोषण की प्रकिया से आम आदमी भी प्रभावित हो रहें हैं| प्राथमिक स्तरों से लेकर ऊच्च्तम स्तर तक बाज़ार नीतियों में ठेकेदारों एवं दिकू बिचौलिये ही दिखाई देते हैं| इसे राकेश कुमार सिंह की कहानी ‘जोड़ा हारिल की रूपकथा’ में देखा जा सकता है| राकेश कुमार सिंह इस व्यवस्था को लिखते हैं की “जंगल की बोली कोई आदिवासी ही लगा सकता था| जंगल बिकता तो था किसी आदिवासी के नाम पर लेकिन घूम फिर कर हर दफा मालिक वही होता था बद्री मिसिर |”[2] बद्री मिसिर एक गैर आदिवासी व्यापारी है जो जंगल का शोषण आदिवासी के नाम पर ही करता है लेकिन जंगल के सरकारी रखवाले जिसे बाबू संस्कृति भी कहा जाता है वो सबके सबके मौन धारण किये हुए हैं| स्वभाव से आदिवासी व्यापारी नही होते हैं और न ही किसी

समाज का शोषण करते हैं किंतु जब से भूमंडलीकरण का प्रकोप जंगलों की तरफ बढ़ता गया है तब से आदिवासी की चिंता भी बढ़ती जा रही है| यह चिंतन अब उनके साहित्य की विधाओं में अभिव्यक्त हो कर सामने आ रही हैं|

गोवर्धन यादव की कहानी 'महुआ के वृक्ष' में आदिवासी समाज के ऊपर ऋण की समस्यां को दिखाया गया है| महुआ के वृक्ष कहानी के पात्र कचरू भी एक दिकू दीनदयाल के शोषण चक्र में महुआ और सागवान दोनों वृक्ष को बेच देता है| कचरू चंद पैसों के लिए अपने पैतृक वृक्ष महुआ और सागवान बेच देता है| जिससे कुछ दिनों के लिए आर्थिक स्थिति ठीक तो रहती है लेकिन कुछ समय के बाद कचरू का परिवार पुन:उसी अवस्था फंस पैतृक संपदा से हाथ धो बैठते है| इस प्रकार दिकू के लूट नीति का शिकार आदिवासी बहुत आसानी से हो जाते हैं | इस चुनौती को आदिवासी लेकक अपनी कथा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं| सौभेन्द्र हांसदा शेखर की कहानी 'आदिवासी नहीं नाचेंगे' में आदिवासी जीवन की आर्थिक स्वरूप एवं दिकू समाज की व्यापारिक लूट नीति को स्पष्ट करती हैं "संथाल व्यापार नहीं समझते| हमें कोयला आसानी से मिल जाता है फिर भी हमें इसके लिए बहुत पैसे नही मिलते, बस खाना कपड़े और शराब भर के लायक कीमत लेकिन ये जोलहा जिन्हें आप मुस्लिम कहते हैं हम जोल्हा कहते हैं वे कोयला की कीमत जानते हैं |"[3] इससे यह तो स्पस्ट हो जाता है की आदिवासी जंगल का व्यापारी नही है बल्के वो जंगल स्थायी निवासी है जिन्हें उनको पुरखों से जंगल को बचाने के नुक्शे मिले होते है वो अपने पेड़ों को पुरखा माँ उस पेड़ की पूजा भी करते हैं जिससे एक तरफ पेड़ भी सुरक्षित और जंगल पहाड़ों में रहने वाले तमाम छोटे छोटे जिव जन्तुओं को भी अपनी परिस्थिति के अनुसार रहना का अवसर भी मिल जाता है यही आदिवासी और जंगल के साथ एक गहरा रागात्मक भाव भी सामने आता हैं| इस रागात्मक भाव को सह अस्तित्व की अवधारणा का एक स्थायी आधार भी कहा जा सकता हैं| इस सह अस्तित्व की अवधारणा को दिकू की पूंजीवादी संस्कृति समाप्त करना चाहती है और इसके बदले में आदिवासी समुदाय को उपभोक्तावादी बनाना चाहती हैं| आदिवासी समुदाय एवं चिन्तक इसी उपभोक्तावादी संस्कृति का विरोध करते हैं|

वस्तुत: ऐतिहासिक सन्दर्भों से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि आदिवासी समुदाय का जीवन दिनचर्याव जरुरत की चीज़ें जंगलों से पूरी हो जाती थी किंतु आधुनिक समय में जंगल सिर्फ जंगल है जहाँ कभी भी विकास् और आरक्षित वन व्यवस्था के नाम पर विस्थापित किया जा सकता है| इसके साथ ही साथ बढ़ती बेरोजगारी जनसंख्या वृद्धि के कारण उनकी पुरानी परम्परागत कृषक सवरूप भी नष्ट होता चला गया है| सदियों से आदिवासी समुदाय न के विभिन्न वर्गों एवं पारिभाषिक समूह खेती एवं पशुपालन पर निर्भर भी लेकिन जब से वन संरक्षण कानून 1980 बनाया गया है तब से वनों में प्रवेश को लेकर रोक लगा दी गई है | एक तरफ यह कानून प्रकृति की जैव विविधता को संरक्षित करने का दावा करती हैं तो दूसरी तरफ मुख्यधारा इस कानून की बिना परवाह किये बिना जंगलों पर अपना प्रभुत्व भी बनाया रखना चाहता है| इस प्रभुत्व की संस्कृति को रमणिका गुप्ता की विचारों से जाना जा सकता है| जिस जंगलं व पहाड़ों में आदिवासी रहते हैं वह उन्हें पुरखा एवं मातृत्व की भावना से जोड़ कर देखते हैं किंतु दिकू समुदाय बाज़ार एवं मुनाफ़े की संस्कृति को आधार बना कर देखते हैं| दिकू समुदाय के अवधारणा में पेड़ एक व्यवसाय का प्रतिक है जैसे सागवान का उपयोग सबसे अधिक व्यवसायों के स्क्षेत्र में किया जाता हिया किंतु एक आदिवासी के दृष्टि में जिव जन्तुओं के रहने का स्थायी निवास स्थान के रूप में हैं| डॉ वीर भारत तलवार के अनुसार “शाल अगर झारखंडी संस्कृति का प्रतीक है तो सागवान पूंजीवादी संस्कृति का प्रतीक|’’[4] इस तरह दोनों समुदायों की आर्थिक क्रिया व्यापार और जंगलों के प्रति उनकी चिंतन को अभिव्यक्त करती हैं|

आर्थिक शोषण का दूसरा पक्ष इस तरह से है की जब से आज़ादी मिली और उसके बाद जो स्वप्न देखा गया विकास का उसमें आदिवासी बहुत पीछे रह गये| रोजगार एवं श्रम उधोगों की रुपरेखा बनाई गई जमीन भी अधिग्रहण की गई कल कारखाने भी खोले गए लेकिन आदिवासी आपातकाल के लिए हाशिये मेंधकेल दिए गए| उस कल कारखाने में अधिकांश तो बहुसंख्यक समुदाय के लोग लगे हुए मिल जायेंगे लेकिन आदिवासी सिर्फ भाषणों और घोषणाओं में ही सिमट कर रह गए\ऐसे में इनका आर्थिक पक्ष निचले स्तर में जा गिरा |रमणिका गुप्ता इनकी चिंता को लिखती है की “आज़ादी के बाद योजनाबद्ध

विकास से आर्थिक क्षेत्र वीशेशतय उर्जा, खनिज, भारी उधोग, सिंचाई तथा आधारभूत विकास कार्यों में क्रन्तिकारी प्रगति हियो लेकिन इस प्रगति के लिए उन लाहों लगों को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी जिन्हें बिना इच्छा के अपनी जमीन और रोटी रोजी से हाथ धोना पड़ा|"[5] यह विवशता, भटकाव एव चुनौतियाँ आदिवासी को आर्थिक पिछड़ापन की तरफ धकेलते जा रही है| इसके बाद फिर आदिवासी समाज के अच्छी खासी संख्या शहरों में पलायन करने को विवश हो जाती है| वाल्टर भेंगरा तरुण 'संगी' कहानी में आदिवासी समुदाय के अर्थ की तलाश में महानगर में जाते हैं और फिर जो उनके साथ शहरी दिकू उनके साथ दोहरा शोषण दैहिक और मंसिक्म शोषण करते हैं इससे कभी आदिवासी उभर नही पाते हैं| आदिवासी शहर आते तो है मजदुर बन कर और मह्नगर उन्हें चोर और उचक्का बना देता है यही शहर की बड़ी विडंबना है| आदिवासी स्त्रियों के साथ जो महानगर करती है| उसकी स्तिथि और भी अधिक दयनीय हो जाती हैं| 'संगी' कहानी की नायिका दुलारी हेम्ब्रम और नायक फागु तोपने जो दोनों ही अपने समाज को आगे बढ़कर सजग और सचेत बनाते हैं और आदिवासी समुदाय कों ठेकेदारों के चंगुल से बाहर भी निकालते हैं|

आदिवासी समुदाय के पास जमीन और खेत सब कुछ है फिर ऐसा क्या है जो इनको अपने ही जमीन से बेदखल करने की लगातार दिकू की तरफ से योजनाये चलती रहती हैं| दिक्कू के पास जमीन नहीं है, जंगल नहीं हैं, और संसाधन नही लेकिन उनके पास बेहतर योजनाए और पूंजी है जिसके माध्यम से वह आदिवासी की जमीन पर उधोग लगा सकते हैं और आगे चलकर आदिवासी समाज के जन समुदाय को सिर्फ सस्ते मजदूरी के लिए ही जगह मिलती है यही आर्थिक विषमता आदिवासी को आर्थिक समानता से दूर रखती है| राकेश कुमार सिंह की कहानी 'कहानी ख़त्म नहीं होती' में कृषक व्यवस्था की स्थिति को दिखाया गया हैं "रूपलाल और रंगोला का पिता रंगलाल जिस जमीन पर माटी मटाल होकर चार माह तक का मोटा आनाज उपजा लेते थे अब पेट रोटी के लिए उसी भूमि पर खुदी खदान में कोयला काट ने लगा था रंगलाल| कल का कृषक पुत्र अब मलकट्टा था|"6 यह आज़ाद भारत के आदिवासी की मार्मिक तस्वीर पेश करती राकेश्

कुमार की कहानी| यह कथा सिर्फ झारखण्ड की कथा नहीं है बल्के समस्त भारतीय ग्रामीण क्षेत्र की दशा हैं| 21वीं सदी का रंगलाल जिसके पूर्वजों ने वर्षों से जिस जमीन की रखवाली करते आये थे आज उसी जमीन में पूंजीवादी संस्कृति के कारण उनका पुत्र मालिक से नौकर और किसान से मजदूर बनने पर विवश हो जाते हैं|

बाज़ार का प्रभाव समाज के हर क्षेत्रों में पड़ा है| उदारीकरण के प्रभाव को पुन्नी सिंह की कहानी जंगल का कोढ़ महत्व कड़ी के रूप में हैं| कहानी की नायिका 'मूँगिया' बाजार को अपने दृष्टि से देखती हैं| उन्हें नफ़ा, नुकसान, भाव मोल आदि व्यापारिक जरूरतों के बारें में ज्ञात है| बाजार के दिकू ठेकेदारों कि लूट प्रक्रिया को भी अच्छे से समझती है और सशक्त भाव से प्रतिरोध भी करती हैं| पुननी सिंह लिखते हैं "पर वही मुंगिया सालहे पुरवा के सेठ से थर थर कांपती है- वह अक्सर पत्तले काम गिनता है, हर्रा बहेड़ा आमला भी नीचा तौलता है और मुंगिया सब कुछ जानती है समझती हुई भी उसके आगे कुछ नहीं कह पाती|"[7] याहन कह पाने का अर्थ है वो उनके समुदायों के मध्य आदिवासी बाज़ार में कोई मंच नहीं है जहां न मंच और समिति है वहाँ गैर आदिवासी कि संख्या अधिक है जिस कारण हर रोज मुँगिया जैसी आदिवासी स्त्रियों के खाद्य सामाग्री को सस्ते दामों मे खरीद जाता है और बाजार मंच और प्रतिनिधि सबके सब मौन ही रहते है| पींजीवाद के बाज़ार में हर दिन आदिवासी समुदाय अपने सामानों को लूटते हुए देखता है और असहाय हो कर शराब के नशों में मगन हो जाता है|

विचारता: यह प्रश्न है कि अब तक विकास कि योजना से आदिवासी समाज कि आर्थिक संकट को हल नहीं किया गया है जिस कारण उनके समाजों में अब तक अर्थीक स्थिति अन समाज कि तुलना में अच्छी नहीं है| आर्थिक एवं विकास योजनाएं जैसे खाद्य वितरण राशन बटवारा पशुपालन योजना दूध योजना मछली उत्पादन के साथ-साथ स्किल बेस्ड योजनाए सब दिकू समाज तक ही आकर रुक जाती है जिस कारण आदिवासी समाज को उनका लाभ नहीं मिल पता है| इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदिवसी समाज के जन समुदायों को सरकारी एवं सहकारी योजनाओं कि जानकारी एवं लाभ हेतु जागरूक

कार्यक्रम चलाने कि जरूरत है जिससे उनके समाज में आर्थिक विषमता काम कि जा सकती है|

निष्कर्ष रूप कहा जा सकता हैं की आदिवासी जीवन एन समाज के आर्थिक पक्ष को समकालीन हिंदी कहानीकारों व विमर्शकारों की चिंतन पद्धति में समकालीन आदिवासी श्रमिक जीवन की दशम को देखा गया है

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-**

1. डॉ. वीर भारत तलवार ,झारखण्ड के आदिवासियों के बीच एक एक्टिविस्ट के कुछ नोट्स भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वर्ष 2024 पृष्ट संख्या 39

2. राकेश कुमार सिंह ,जोड़ा हरिल की रूप कथा ,भारतीय ज्ञान पीठ पृष्ट संख्या 122

3. हांसदा सौभेन्द्र शेखर,आदिवासी नही नाचेंगे ,राजपाल एंड संस ,पृष्ट संख्या 176

4. डॉ. वीर भारत तलवार ,झारखण्ड के आदिवासियों के बीच एक एक्टिविस्ट के कुछ नोट्स भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वर्ष 2024 पृष्ट संख्या 41

5. रमणिका गुप्ता,आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्णा प्रकाशन,प्रकाशन वर्ष 2018, पृष्ट संख्या 07

6. राकेश कुमार सिंह ,कहानी ख़त्म नहीं होती ,भारतीय ज्ञानपीठ,प्रकाशन पृष्ट संख्या 57

7. पुन्नी सिंह नये जिनावर ,पृष्ट संख्या 11

मो आज़म शेख

हाउस न 109

सराय जुलैना ओखला

दक्षिणी दिल्ली 110025

दूरभाष सं 7050261672